कथा, कथांतर और कथोपरांत काशी का अस्सी

प्रफुल्ल कोलख्यान

संध्या का समय झींगुर ने पूछा - "कुछ बनाओगे न?"

बुद्धू - "नहीं तो खाऊँगा क्या?"

झींगुर - "मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे?"

बुद्धू - "इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ । आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर पर ही पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।"

झींगुर - "तवा भी तो नहीं है ?"

बुद्धू - "तवे बहुत हैं। यह गारे का तसला माँजे लेता हूँ।"

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनायीं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खायीं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा - "तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगायी थी।"

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा - "जानता हूँ।"
थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला - "बछिया मैंने ही बाँधी थी,
और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।"
बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा - "जानता हूँ।"
फिर दोनों सो गए।

-प्रेमचंद: मुक्ति-मार्ग

बनारस

सिर्फ एक स्थान, शहर, पीठ,मुकाम आदि ही नहीं है। भारतीय जीवन अनुभवों के युगों के सतत प्रवाह, ठहराव, विमर्श, अपकर्ष दुख और सुख का भी एक और नाम है बनारस। काशीनाथ सिंह के शब्दों में, "अस्सी मुझे हमेशा अपने देश का खदबदाता हुआ निहायत जागरुक मगर मस्त और जिंदादिल खित्ता लगता है।" सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के अनुसार, बनारस बहुत पुराने तागे में बंधी एक तावीज है जो एक तरफ से खोलकर भाँग रखने की डिबिया बना ली गई है। अपने उपन्यास "रतिनाथ की चाची" में बाबा नागार्जुन बताते हैं--- "काशी बहुत ही विलक्षण और बड़ा ही विचित्र स्थान है। ऐसा लगता है, मानो हिंदुत्व और भारतीयता के सारे गुण और सारे दुर्गुण यहाँ बाबा विश्वनाथ की शरण में दुबके पड़े हैं।" बनारस राँड़, साँड़, सीढ़ी और संन्यासी के लिए तो प्रसिद्ध है ही, अपने पंडों, गुंडों, ठगों के लिए भी प्रसिद्ध है। जिन सत्य हरिश्चंद्रों के बिकने की जगह पूरी दुनिया में नहीं बचती है उन हरिश्चंद्रों की खरीद-बिक्री के लिए भी शिवजी के त्रिशूल पर बसी यह नगरी जगह देती है और इस तरह सबका पत बचता है, यहाँ। हिंदु और भारतीय मन की अद्भुत गुत्थी का नाम काशी या बनारस है। आज के सामाजिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो वर्चस्वादी प्रवृत्ति का सारा खेल, बहुत ही शातिराना ढंग से हिंदुत्व और भारतीयता के सारे सूत्रों की स्वायत्तता एवं सत्व का हरण कर, हिंदुत्व और भारतीयता को एक दूसरे का समव्यापी पर्याय बनाने के लिए किया जा रहा है। इस खेल में हिंदुत्व और भारतीयता दोनों के ही सारे दुर्गुण एकत्र होकर इन दोनों के सदगुणों को व्यर्थ कर दे रहे हैं। इस व्यर्थीकरण प्रक्रिया और उसके परिणामों को सठीक और सटीक ढंग से जानना तब आसान हो जाता है जब किसी साहित्यिक कृति में यह शहर खुद अदृश्य पात्र की तरह अपनी कथा बाँचने का प्रयास करता

है। यही प्रयास प्रकट हुआ है काशीनाथ सिंह की इस औपन्यासिक कथाचर्या में। इस औपन्यासिक कथाचर्या में साहिति की सारी विधाओं के सार के रासायनिक परिपाक और लोकेल के परोक्ष पात्र के रूप में अवतरण से इक्कीसवीं सदी में एक नई साहित्यिक विधा, संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के रूप में प्रस्फुटित हुई है। गंगा साक्षी है कि यह लाकेल द्रविड़ में उपजी भक्ति को लानेवाले आकाशधर्मा गुरू रामानंद का तो है ही यह लोकेल भारतीय मानस-पटल का ताना-बाना सरियाकर झिनी-झीनी चदरिया बुनने, उस चदरिया को जतन से ओढ़ने एवं ज्यों-का-त्यों धर देनेवाले अन्य मर्म के राम की दुल्हिन और वाम्हन-वाम्हिनी जायों के अन्य मार्ग से नहीं आने पर सवाल करनेवाले कबीर और चित्रकुट के घाट पर चंदन घिस-घिस कर धनुषधारी दसरथ-सुत राम का तिलक करनेवाले तुलसी का ही नहीं प्रेमचंद, प्रसाद, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं नजीर बनारसी तथा अन्य समकालीनों के साथ-साथ काशीनाथ सिंह के अपने जीवन का भी लोकेल है। काशी से काशीनाथ सिंह का लगाव वैसा ही जैसा लगाव ''रतिनाथ की चाची'' में नागार्जुन पंडितों के संदर्भ में उल्लिखित करते हुए बताते हैं कि ये पंडित पच्छिम की ओर चले जायें तो सौ-डेढ़ सौ कमा लें, लेकिन यहाँ पंद्रह-बीस रुपयों पर रमे और जमे रहते हैं। एक काशी वह है जिस में काशीनाथ सिंह रहते हैं और एक काशी वह है जो काशीनाथ सिंह में रहती है। ये दोनों काशी जब आपस में अस्सी की प्रकृत जीवन-शैली में बतियाने की मुद्रा में आते हैं तब आकार पाने लगता है, ''काशी का अस्सी''। काशीनाथ सिंह की शैली न केवल अनुच्छिष्ठ है बल्कि हिंदी मानस की आंतरिक बुनावट की सर्वाधिक अनुकूलता में भी है। क्या है इसका अनूठापन, इस अनूठेपन के स्रोत और आधार क्या हैं, इस अनूठेपन के बनने के सामाजिक और साहित्यक कारकों की अंत:प्रक्रिया की प्रविधि क्या है जैसे सवाल तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, महत्त्वपूर्ण यह भी है कि इन सवालों के संदर्भ में विशेषकर और इन सवालों के इतर भी हिंदी मानस की बनुवाट को भी उद्घाटित करने और नये सिरे से समझने का प्रयास हम काशीनाथ सिंह के इससंस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के माध्यम से कर सकते हैं। हाल के दिनों में प्रकाशित जिन साहित्यिक साक्ष्यों के माध्यम से हिंदी मन को पढ़ा जाना संभव हो सकता है उन साहित्यिक साक्ष्यों में काशीनाथ सिंह के इस संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। हिंदी मन को पढ़ने के सुयोग जुटाने की दृष्टि से यह कैसे महत्त्वपूर्ण है इस पर विचार किया जाना जरूरी है। जरूरी यह जानना भी है कि यह हिंदी मन क्या है और यह भी कि इस हिंदी मन के साथ हिंदी साहित्य का आज कोई तादात्म्य है या नहीं। इस में कथा है, कथांतर है और साथ ही कथोपरांत भी बहुत कुछ ऐसा है जिसे बार-बार खोलने एवं समेटने, उधेड़ने एवं बुनने की जरूरत है।

इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि आज जब जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की पूर्व मान्य सीमाएँ और संप्रभुताएँ टूट रही हैं तब साहित्य की विधाओं के टूटन के कारण उत्पन्न होनेवाले खतरों के प्रति भी सचेत रहना अनिवार्य है।

इस टूटन की प्रक्रिया को और इसके सामाजिक एवं साहित्यिक निहितार्थ को समझा जाना भी आवश्यक है। विचार किया जा सकता है कि काशीनाथ सिंह की कथाचर्या से उत्पन्न संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र कितनी सफलता से विधाओं के टूटन के कारण उत्पन्न होनेवाले खतरों से निपटती है और कैसे निपटती है। विचार का विषय इस टूटन के सामाजिक और साहित्यिक निहितार्थ भी हो सकते हैं। अभी-अभी रवींद्रनाथ ठाकुर की "लिपिका" पढ़कर उठा हूँ। लिपिका को उनके गद्यकाव्य का उदाहरण बताया जाता है। कहने की जरूरत नहीं है कि रवींद्रनाथ समर्थ कवि होने के साथ ही समर्थ गद्यकार भी थे। दोनों ही विधा में समर्थ होने के बावजूद उनके कथ्य की संवेदना का वह कौन-सा दु:साध्य पक्ष है जो दोनों ही विधाओं की अकेली-अकेली शक्ति और संभावनाओं को ना-काफी ठहरा देता है। इस दु:साध्य पक्ष को बार-बार उद्घाटित करने से सर्जनशीलता से संबंधित बहुत सारे सवालों के कुछ जवाब तो मिल ही सकते हैं। काशीनाथ सिंह भी समर्थ साहित्यकार हैं। साहित्य के अध्यापक, विद्यार्थी और सर्जक होने के कारण साहित्य की विभिन्न विधाओं के शील और कौशल से न सिर्फ उनका रूपगत परिचय है बल्कि वे उन विधाओं की आभ्यांतरिक अभियांत्रिकी से भी भलीभाँति परिचित हैं। फिर हिंदी मन के फटे हुए अहं के समकालीन यथार्थ की संवेदना का वह कौन-सा दु:साध्य पक्ष है जो संस्मरण, कथा, उपन्यास, रिपोर्ताज, व्यंग्य आदि के सार को एक नई विधा में संघनित करने पर ही किसी भाषिक आयोजन का हिस्सा बन पाता है। जो साहित्यिक रचनाएँ अपनी विधाओं के शील और स्वभाव की आंतरिक विशिष्टताओं के जड़ भाग की पहचान करते हुए उसे सामाजिक विकास के नये परिप्रेक्ष्य से प्राप्त जीवंत अनुभवों के सर्जनात्मक साहचर्य और समावेश से विस्थापित करने में कामयाब होती हैं उन साहित्यिक रचनाओं के मर्म से पाठकों के मर्म के जुड़ाव को समझने के लिए आलोचना को भी मानसिक रूप से तैयारी करने की जरूरत होती है। यह मानसिक तैयारी आलोचना की उदारता की ही माँग नहीं करती है बल्कि उसमें सार्थक बने रहने की अनिवार्य आकांक्षा की भी माँग करती है। यह कैसे हो सकता है कि रचना तो आगे बढ़ती रहे, नयी चुनौतियों का सामना करती रहे और आलोचना रचना के साथ अपनी सहयात्रा को जारी रखने की बुनियादी शर्तों की अवहेलना करते हुए मानिनी की तरह ठिठकी हुई मन:स्थिति में पड़कर अपनी पुरानी जगह पर ही ठमकी रहे, अपने विकास और परिवर्त्त की चुनौतियों से मुँह चुराती रहे! ठसक के साथ ठुमक-ठुमक कर नई राह पर चलती हुई रचना को ठिठकी और ठुमकी हुई आलोचना कैसे समझ सकती है! नायिका तो रचना ही होती है। व्यावहारिक आलोचना चाहे वह जितनी भी सुंदर, चतुर और समझदार क्यों न हो वह अंतत: और अनिवार्यत: उसकी दूती ही होती है। स्वाभाविक ही है कि ठमकने-ठुमकने, ठिठकने और रूठने का अधिकार सिर्फ नायिका को ही प्राप्त होता है, दूती को नहीं। दूती को तो नायिका के मिजाज के साथ ही चलना होता है। कभी-कभी दूतियाँ इतनी चतुर सुजान होती हैं कि संवाद कायम करने की जगह संबंध कायम करने में ही अधिक दिलचस्पी लेने लगती हैं। कभी-कभी इस दिलचस्पी के नतीजे अच्छे भी निकल आते हैं लेकिन अधिकतर

मामलों में इस प्रक्रिया में जो त्रैत उभरता है वह अंततः साहित्य को शुभ की ओर ले जानेवाला नहीं होता है।

काशीनाथ सिंह की शैली के वैशिष्ट्य पर ध्यान दने से सबसे पहले यह बात समझ में आती है कि काशीनाथ सिंह के पात्र अपने संपूर्ण अस्तित्व के साथ ही कथा पटल पर आयत्त होते हैं। ये पात्र कभी भी अपनी भूमिका के किसी पक्ष के एक ही रूप में सीमित नहीं रहते हैं। जब वह पात्र शिक्षक के रूप में होता है तब वह पिता, भाई, मित्र, नागरिक आदि को स्थगित रखकर या अनुपस्थित कर बना हुआ शिक्षक नहीं होता है। जब वह वर्त्तमान में होता है तो वह अतीत या भविष्य को स्थगित कर वहाँ नहीं होता है। जब वह बनारस में होता है तब वह सिर्फ बनारस में ही नहीं होता है। सार्वकालिकता और सार्वदेशिकता की निजगत और समष्टिगत अविकल उपस्थिति इन पात्रों की विशिष्टता है। वे कथा में वैसे ही होते हैं जैसे कि जीवन में हो सकते हैं। अपने चरवाहे होने की याद को विस्मृत किये बिना मंच पर राजा की भूमिका प्रभावशाली ढंग से निभा रहे संश्लिष्ट व्यक्तित्व की तरह। संश्लिष्ट पात्रों की अपनी मूल प्रकृति को ही कलाकृति के रूप में सहेज और समेटकर प्रस्तुत कर पाने से ही उनके पात्रों की यह अद्भुत निमिर्त्ति संभव होती है। वे यथार्थ होकर भी सिर्फ यथार्थ नहीं होते, सत्य होकर भी सिर्फ सत्य नहीं होते, वे स्मृति होकर भी सिर्फ स्मृति नहीं होते वे जो होते हैं सिर्फ उसी से शासित और सीमित नहीं होते हैं। बहुलवाही स्वभाव की भारतीय विशिष्टता ही है, "उस में होकर भी उसी में नहीं होना"। आलोचना के लिए काशीनाथ सिंह की शैली के इस वैशिष्ट्य को उनकी रचनाशीलता के प्रारंभिक दौर में आँक पाना तो बहुत ही मुश्किल रहा होगा, आसान यह आज भी नहीं है। नामवर सिंह ने "नई तारीख" पर विचार करते हुए ठीक ही संकेत किया है "देख तमाशा लकड़ी का" जैसे संस्मरणों या रेखाचित्रों में जो कला परवान चढ़ी उसकी शुरूआत दरअसल कविता की नई तारीख में ही हुई थी। यहीं से उस वर्जनामुक्त खिलंदड़ेपन की शुरूआत हुई और ज़बान पर खेलते हुए उस जीते जागते गद्य की भी। कहना होगा कि इन तमाम बातों के मूल में उदित होनेवाला एक नया कथाकार व्यक्तित्व है! "यह नया कथाकार व्यक्तित्व प्रकट होता है अपने संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र "काशी का अस्सी" में। खुद काशीनाथ से जानना चाहें तो, "मेरे दिमाग में इक्कीसवीं सदी की शुरूआत गूँज रही है। इन परिवर्तनों की चुनौतियों का सामना बनारसी जीवन-शैली कैसे करेगी या उसकी प्रतिक्रिया इस जीवन शैली पर क्या होगी--- यही मेरा विषय है। इस पर अधिकांश काम पूरा कर चुका हूँ। इसमें वबनारस का वर्तमान और भविष्य की आहटें होंगी।" (काशीनाथ सिंह: कहन)। काशीनाथ सिंह के पात्र झिंगुर और बुद्धू की वे संतानें हैं जिन के बीच एक दूसरे के चरित्र से भली-भँति अवगत होने के बाद किसी भी प्रकार की भाषिक या व्यावाहारिक औपचारिकता में पड़े बिना संवाद होता है। नई परिस्थतियों में पड़ जाने पर वैर के पुराने भाव से मुक्त होकर

एक नई निर्वैर स्थिति में संवाद करते हुए मुक्ति-मार्ग की तलाश में नये स्वप्न-विधान और जागरण के लिए नींद का आह्वान करनेवाले झिंगुर और बुद्धू की ये संतानें "काशी का अस्सी" में वर्जनामुक्त संवाद करती हैं। संसद के बाहर किये जानेवाले इस असंसदीय संवाद में स्वाभाविक है कि संसदीय शब्दावलियों(?) के प्रपंची अर्थाचरण के लिए कोई जगह नहीं बचती है।

काशीनाथ सिंह के पात्रों का "उस में होकर भी उसी में नहीं होना" एक ऐसा वैशिष्ट्य है जो "काशी का अस्सी" में अपनी पूरी प्रखरता के साथ विधा के वैशिष्ट्य के रूप में उभर कर सामने आया है। "काशी का अस्सी" के संदर्भ में धूमिल के "शांति-पाठ" को याद करें तो जिनका गुस्सा, जनमत की चढ़ी हुई नदी में एक सड़ा हुआ काठ है और जिनका चरित्र लंदन एवं न्यूयार्क के घुंडीदार तसमों से डमरू की तरह बजता हुआ अँग्रेजी का 8 है, कशीनाथ सिंह ने साहित्य की सुर्खियाँ मिटाकर उनकी दुनिया के नक्शे पर अंधकार की एक नई रेखा खींची है; भविष्य के पठार पर हिंदी मन की आत्महीनता का दलदल उलीचा है, इस उम्मीद से कि अंधकार की इस नई रेखा के गर्भ से रोशनी की नई किरणें छिटकेंगी, सामाजिक संघर्ष के ताप से आत्महीनता का यह दलदल उपजाऊ मिट्टी में बदल जायेगा। सवाल यह है कि जिनके मन में अंधकार की इस नई रेखा से एक प्रकार का सांस्कृतिक डर जन्म ले रहा है या जिनकी नाक इस दलदल की दुर्गंध से फटी जा रही है उनके मन में वास्तविक जीवन में इनके होने से कोई कुलबुलाहट क्यों नहीं हो रही है?

हिंदी कहानी के विकासक्रम को ध्यान में लायें तो अनायास ही प्रेमचंद ध्यान में आते हैं। प्रेमचंद कैसी कहानी चाहते थे? यह भी कि प्रेमचंद कहानी से क्या चाहते थे? इन बातों को यहाँ एक बार ठहर कर याद कर लेना प्रासंगिक है। खुद प्रेमचंद के शब्दों में "....हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाए, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाए, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अंत तक मुग्ध किये रहे; उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हों। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाए, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानी में उपदेश नहीं चाहते; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुंदर भावों को जागृत करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से--- मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से--- एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वही होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।... अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना विन्यास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं कि पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतंत्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है-- उसी तरह जैसे शालग्राम

स्वतंत्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है। खुलासा यह कि गल्प का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है।" --प्रेमचंद (मानसरोवर / प्रथम भाग / प्राक्कथन)

उपदेशमुक्त

और विचारों को उत्तेजित करनेवाले पात्रों की मनोगति को समझने एवं उस के साथ ताल मिलाकर रचने की प्रेरणा और प्रतिज्ञा को मनस्थ करने से ही संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र का महत्त्व समझ में आ सकता है। इस मनोगति को समझने एवं उसके साथ ताल मिलाकर चलने के लिए सबसे पहले जरूरी यह है कि उस समाज की विनिर्मिति के ऐतिहासिक प्रवाह में उन पात्रों के विनिर्माण की प्रक्रिया की पहचान की पहल की जाये। आलोचना की भूमिका को इस पहल से जोड़कर देखा जाना चाहिए। रचना पाठ प्रस्तुत करती है और आलोचना उस पाठ का परिपाठ तैयार करती है। रचना और आलोचना इस तरह मिलकर साहित्य के संवेदना चक्र को पूरा करने का प्रयास करती हैं। इस मनोगति के संदर्भ में पाठक अपनी मनोगति के कुछ सूत्रों को समझ सकता है। सफल साहित्यिक कृति के पाठ पूर्व और पाठोत्तर अनुभव में यह अंतर होता है कि पाठ के पूर्व पाठक को पता होता है कि वह साहित्यिक कृति को पढ़ने जा रहा है और पाठ के बाद उसे पता चलता है कि वह साहित्यिक कृति तो बीच में कहीं दूसरी जगह चली गई और उसकी जगह पाठक जिस पाठ को पढ़ता रहा वह पाठ उसकी अपनी जिंदगी और अपने समय का पाठ है। पहले दूती जाती है, फिर प्रेमिका भी चली जाती है, प्रेमी भी: बचा रहता है सिर्फ प्रेम। राधा-राधा रटते-रटते माधव के राधा बन जाने एवं माधव-माधव रटते-रटते राधा के माधव बन जाने और अंतत: सिर्फ प्रेम-पाठ के बचे रह जाने की तरह।

"काशी का अस्सी" के विभिन्न प्रसंग विभिन्न समय पर लिखे गये हैं और विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इस विभिन्नता के कारण वे स्वतंत्र रूप से भी अपने-आप में पूर्ण हैं लेकिन इनका संदर्भ, पात्र, चिंताएँ, शैली और विन्यास एक ही है इसलिए ये सारे विभिन्न प्रसंग एक साथ आकर एकात्म हो गये हैं और संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के रूप में संगठित हैं। इन में "पांड़े कौन कुमति तोंहे लागी" एक ऐसा प्रसंग है जो इन तमाम प्रसंगों को छाते की कमानियों को मिलानेवाली नाभि-घुर्णी (hub cap) की तरह "काशी का अस्सी" के विभिन्न प्रसंगों को धारणकर संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के रूप में संगठित करता है। इसलिए "पांड़े कौन कुमति तोंहे लागी" पर चर्चा जरा विस्तार से प्रासंगिक है। "पांड़े कौन कुमति तोंहे लागी" के कतिपय मजबूत और वर्तमान परिप्रेक्ष्य के अतिप्रासंगिक संदर्भों को ठीक से समझने के लिए हमें अपने समय के मूल्य बोध में

बाजारवाद और उपभोक्तावाद के द्वारा नैतिक संकाय पर सृजित किये जा रहे दबाव के स्वरूप को दृष्टिपथ में रखना होगा। बाजार और धर्म के नव-संश्रय को पकड़े बिना इस संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के मर्म का न तो स्पर्श किया जा सकता है और न उसके प्रमुख पात्रों के मन को ही पढ़ा जा सकता है। आज के उपभोक्ता समाज के नैतिक संकाय की खोजबीन की जाये तो इसके अंदर सक्रिय पुरोहितवादी रूझान को बड़ी आसानी से पकड़ा जा सकता है। यह उपभोक्ता समाज भोग के स्तर पर नितांत "भौतिकवादी" आचरण करने वाला होते हुए भी आध्यात्मिकता के बहाने पुरोहितवादी नैतिक सरणियों के निर्माण में बड़ी तत्परता से संलग्न पाया जाता है। आज पूरी दुनिया में उभर रहे धर्माग्रह को इस संदर्भ में व्याख्यायित किये जाने की आवश्यकता है। ध्यान देने की बात यह है कि धर्माग्रह जितनी तेजी से बढ़ रहा है उतनी ही तेजी से धर्माचरण पर जोर भी कम होता जा रहा है। क्योंकि, पारंपरिक धर्माचरण में दया, करुणा, परदुखकातरता, परहित जैसे भाव अंतर्निहित रहे हैं। यद्यपि, व्यवहार के स्तर पर प्रभुत्व संपन्न वर्ग के सदस्यों में इस तरह के धर्माचरण के उदाहरण कम ही मिलते हैं। सिद्धांत के स्तर पर इनकी स्वीकृति सदैव रही है। इस स्वीकृति का सकारात्मक परिणाम दया के दान तक फैलकर पुण्य लूटने और परलोक सुधारने में परिलक्षित होता रहा है। पुण्यार्थ से मुक्त उपभोक्ता समाज यह भली-भांति जानता है कि इसे सिद्धांत के स्तर पर भी स्वीकार करना एक प्रकार के झंझट को बचाये रखने जैसा ही होगा। इस झंझट से बाहर निकलने की पुरोहिती छटपटाहट धर्मनाथ शास्त्री की नैतिक छटपटाहट की मुख्य ग्रंथि और विडंबना है। भारतीय संस्कृति के हिंदू संदर्भ को देखें तो पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म को सबसे निम्न स्तर पर उपलब्ध पुरुषार्थ माना गया है। वह धर्म स्वीकार्य नहीं जो अर्थ के अर्जन और उपार्जन के लिए प्रयोज्य न हो, वह अर्थ स्वीकार्य नहीं जो काम की संतुष्टि में सहायक न हो और वह काम भी स्वीकार्य नहीं जो मोक्ष में बाधक बने। इसे भी अगर ध्यान में रखा जाये तो इनके संश्लेष के समकालीन फलितार्थ को अधिक सटीक ढंग से समझा जा सकेगा। वैसे बाजार वस्तुत: धर्म, काम और भाषा की आत्मिक संश्लिष्टता से सामाजिकता और सामाजिक-नैतिकता की जो अभिकेंद्रिकता बनती है उसमें भारी विचलन पैदा कर अपनी तथाकथित नैतिकता, अर्थात निर्बाध, निर्बंध, अंध, उन्मुक्त, निर्मम और क्रूर भोग के लिए उपयुक्त जगह और मन बनाता है। मन बनाने की इस प्रक्रिया आंतरिक द्वंद्व और तनाव की नैतिक पीड़ा की तीव्र सक्रियता का प्रवाह और निर्वाह इस संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र को सघन तथा मार्मिक बनाता है। इस पीड़ा के उत्स को समाज और रचना के स्तर पर समझना होगा, तभी उपभोक्ता समाज के मन को ठीक-ठीक पढ़ा जा सकता है। काशीनाथ सिंह के मन में गूँज रही इक्कीसवीं सदी की अनुगूँज, वर्तमान और भविष्य की आहटों और इन पविर्तनों से जूझ रहे हिंदी समाज के मन की पीड़ा और आह्लाद को "काशी का अस्सी" की गवाही में कलात्मक स्वीकार्यता के साथ आत्मसात किया जा सकता है।

मान्य अवधारणा है कि इच्छा स्वातंत्र्य को सुनिश्चित किये बिना नैतिकता का प्रसंग उपस्थित ही नहीं हो सकता है। सभ्यता और संस्कृति ज्यों-ज्यों जटिल होती जाती है त्यों-त्यों उसमें इच्छा स्वातंत्र्य के लिए गुंजाइश भी कमतर होती जाती है। वैयिक्तक और सामाजिक इच्छा स्वातंत्र्य को सीमित करनेवाली विभिन्न शक्तियाँ मानवीय सभ्यता के निर्मायिक और विधयाक तत्त्वों में सक्रिय रहती हैं। उन निर्मायिक और विधयाक तत्त्वों में एक तत्त्व धर्म भी है। धर्मप्रसूत नैतिकता अपने समय के आर्थिक दबावों के आगे किस प्रकार नये तर्कबल पर अपनी नयी उपयुक्त व्याख्या और गढ़न को अर्जित करने के लिए बाध्य होती है, इसे हम "पांड़े कौन कुमति तोंहे लागी" में हासिल होता हुआ देख सकते हैं। इस व्याख्या और गढ़न की सार्वजनिक स्वीकृति और मान्यता के लिए अपनायी जानेवाली तकनीक और प्रयुक्त की जानेवाली ताकत लेकिन पुरोहितवाद के पास पुरानी ही है, अर्थात स्वप्न में प्राप्त होनेवाला ईश्वरीय आदेश। संभवत: यह अपेक्षाकृत कमजोर पक्ष है। इस ईश्वरीय आदेश के सहज समावेश के कारण इस प्रसंग में अपेक्षित द्वंद्व और तनाव के लिए आवश्यक जगह नहीं बन पाती है और इस प्रसंग के पूरी तरह खिलने का अवसर सीमित हो गया प्रतीत होता है। शायद इसी के कारण यह प्रसंग बड़ी तेजी से अपने मंतव्य तक पाठक को ले जाने का प्रयास करता हुआ भी प्रतीत होने लगता है। एक दूसरी बात की ओर भी संकेत करना आवश्यक लग रहा है। भाषा (यथा, संस्कृत शिक्षण) और काम संबंधों (यथा पंड़ाइन की शंका) के कथा में उपस्थित समुचित अवसर का अपेक्षित कलात्मक विकास नहीं हो पाया है। ऐसा, मंतव्य तक पहुँचने-पहुँचाने की जल्दबाजी के कारण अथवा किसी अन्य कारण से हुआ है यह विश्लेषित किये जाने की जरूरत है।

अपनी इन कतिपय सीमाओं के बावजूद यह हमारे समय का अति महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। इस प्रसंग से एक बात और समझ में आती है कि समय की सापेक्षता में रचकर किसी रचना का पाठक के समक्ष समय पर आ जाना उस रचना विशेष को किस प्रकार महत्त्वपूर्ण बना देता है। और यह भी कि रचनाकार को कैसे सब कुछ को एक ही रचना में हासिल कर लेने के व्यामोह से बचना चाहिए। इस प्रसंग में जिस सिलसिले को पकड़ने की कोशिश की गयी है वह 85 के आस-पास शुरू हुआ था। इस 85 को पकड़े बिना इस प्रसंग को ठीक से नहीं समझा जा सकता है। 85 के आस-पास अंतर्राष्ट्रीय और हमारे राष्ट्रीय जीवन में कौन-सा सिलसिला शुरू हुआ था? एक-दो का संकेत कर देना आवश्यक होगा। यही वह समय था जब गोर्बाचोब के ग्लास्तोनोस्त और पेरिस्त्रोइका का प्रभंजन एकध्रुवीय विश्व बनाने के खतरे की ओर बढ़ने की पृष्ठभूमि तैयार कर रहा था। आवारा विश्वपूँजी विकासशील दुनिया के आर्थिक द्वार पर अपने दस्तक को पदाघात में बदलकर जोरदार धक्का लगाने की तैयारी कर रही थी। राजीव गाँधी प्रचंड बहुमत से जीत कर आये प्रधानमंत्री के रूप में भारत के संसदीय गणतंत्र में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उनके विचारों में उस

इक्कीसवीं शताब्दी के कतिपय मनोहारी सपने थे जिस इक्कीसवीं सदी के यथार्थ में हम जी रहे हैं। नयी आर्थिक नीति की शुरूआत हो रही थी। पहले शाहबानो और फिर बाबरी मस्जिद का प्रकरण भारतीय संस्कृति के स्व-भाव को चुनौती दे रहा था। भागलपुर, मेरठ आदि में होनेवाले सांप्रदायिक दंगों की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। रूपकुंअर कांड धार्मिकता, नैतिकता, परंपरा और सामाजिकता पर नये प्रश्न चिह्न के साथ उपस्थित हो रहा था। कुमार बंधुओं के जासूसी कांड के भंडाफोड़ के साथ ही बिल्कुल नये किस्म के ग्लोबल आर्थिक-राजनीतिक भ्रष्टाचार की पूर्वपीठिका भी सतह पर आने के लिए मचल रही थी। आज के उपस्थित यथार्थ को ठीक से समझने के लिए उस नयी आर्थिक नीति और उस समय के इन संदर्भों के विकास को ध्यान में रखना ही होगा। जरा गौर से पहाचनिये धर्मनाथ जी शास्त्री को, उनके हठ को, उस सिलसिले की शुरूआत में उनके स्व-धर्म और स्वदेश-प्रेम के संदर्भों को, और उनकी आज की कुमति (पढ़िये अर्थनीति) को भी। इस पहचान के साथ ही इस प्रसंग का मन और मर्म दोनो हासिल हो सकेगा, क्योंकि यह प्रसंग इन्हीं शास्त्री जी की है। "पांड़े कौन कुमति तोंहे लागी" के सिलसिले की शुरूआत उसी 85 के आस-पास की है और यह प्रसंग तब का है जब उड़ीसा में ग्राहम स्टेंस हत्याकांड हो चुका था। और हम इससे यह भी समझ सकते हैं कि उसके पहले बाबरी मस्जिद भी ढायी जा चुकी थी और कहानी के संभव होने के ठीक पहले मुखौटा को किनारे कर मुँह ने आमने-सामने अपने मन की बात कह दी थी। एनरॉन के बहाने मादलेनों के चेहरे की भी साफ झलक दीख रही थी। प्रसंगवश, इस एनरॉन का चेहरा और हकीकत अब और साफ हो चुका है।

धर्म और बाजार के नव-संश्रय में धर्म से अधिक ताकतवर, और इसलिए निर्णायक भी, बाजार ही होता है। इसलिए उपभोक्ता समाज में बन रही नव नैतिकता की निर्मिति में अंतत: चलेगी बाजार की ही और धर्म का काम ऐसे या वैसे इस बाजार के लिए जगह बनाने तक ही सीमित रहेगा। जिस दिन धर्म की यह भूमिका चुक जायेगी उसी दिन बाजार के दबाव से शिवजी की तरह ही सपने में आयेंगे रामलला भी और शिवजी की ही तरह अपने धनुष पर वाण चढ़ाकर या उससे भी अधिक गुस्सा हुए तो अपने मूल रूप में आकर सुदर्शन चक्र घुमाघुमाकर वे सारी बातें उसी शैली में कहेंगे जो सारी बातें शिवजी ने शास्त्री जी से जिस शैली में कही। इस संश्रय की गाँठ खुलते ही उस समस्या का निदान भी हो जायेगा जिसका हल अभी किसी के पास नहीं दीखता है। तथाकथित आस्था और विश्वास के अहस्ताणंतरणीय बताये जा रहे आयाम के बदलते भी देर नहीं लगेगी और श्रीमान सत्ताधीश धर्मनाथ शास्त्री के स्वधर्म प्रेम की हालत भी स्वदेश एवं स्वदेशी प्रेम की तरह ही ढाक के तीन पात हो जायेगी।

समाज में बन रही इस नव-नैतिकता के कथ्य को संवेदना और रचना के स्तर पर अपने पाठकों को हासिल करवा सकने की दृष्टि से यह संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र अतिमहत्त्वपूर्ण माना जायेगा। जो हो, इस संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के शिल्प की अपनी सीमाएँ भी हैं, इसे ध्यान में रखना जरूरी है। रवींद्रनाथ ठाकुर ''लिपिका'' के शिल्प से ही चिपके नहीं रह गये थे। उम्मीद की जानी चाहिए कि कशीनाथ सिंह भी इस संस्मरण-प्रवण औपन्यासिक व्यंग्य कथाचित्र के शिल्प से ही बँधे नहीं रह जायेंगे।

संदर्भः काशी का अस्सीः राजकमल प्रकाशन